



National Journal of Hindi & Sanskrit Research

ISSN: 2454-9177
NJHSR 2015; 1(3): 33-35
© 2015 NJHSR
www.sanskritarticle.com

Dr Saroj gupta,
associate proff.,
satyawati college(m),
topper of dault ram
college&north campus, Delhi

Correspondence:

Dr Saroj gupta,
associate proff.,
satyawati college(m),
topper of dault ram
college&north campus, Delhi

भारतीय दर्शन में शब्द का स्वरूप और शक्तिग्रह

डॉ. सरोज गुप्ता

भारतीय दर्शन में जाति और व्यक्ति की समस्या मूल रूप से शब्द के शक्तिग्रह की समस्या से संबंधित है। जिस प्रकार हमारे ज्ञान के विषय में यह समस्या उठती है कि वह सामान्य रूप होता है अथवा व्यक्ति-विशिष्ट। जिस पर न्याय-मीमांसा दर्शन और बौद्धदर्शनों में परस्पर विवाद चलता रहता है। उसी प्रकार भाषा में भी यह समस्या दिखाई देती है कि शब्द से अर्थ की प्रतीति जाति मानकर (शब्द को जाति मानकर) होती है या व्यक्ति मानकर होती है। 'शक्तिग्रह' अथवा 'संकेतग्रह' की सहायता से ही कोई शब्द किसी अर्थ का बोध कराता है - यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है। जिस शब्द का संकेतग्रह होता है, सर्वप्रथम उसे जानना भी आवश्यक है।

शब्द का स्वरूप

भारतीय दर्शन में शब्द के स्वरूप के विषय में पर्याप्त चर्चा पाई जाती है। विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदाय शब्द का स्वरूप अपनी-अपनी दार्शनिक प्रक्रिया के अनुरूप भिन्न-भिन्न रूप में प्रस्तुत करते हैं। शब्द के स्वरूप के विषय में वैयाकरण की अपनी विशिष्ट मान्यता है। वह वाचक को उच्चार्यमाण एवं श्रूयमाण गकार आदि वर्ण-ध्वनियों से व्यतिरिक्त, तत्त्वतः एक निष्क्रम एवं निरयव नित्य सत्ता मानता है और उसे 'स्फोट' शब्द से अभिहित करता है।

वर्णों के संघात से शब्द बनता है। शब्द की लौकिक और पारलौकिक महत्ता का वर्णन करते हुए दण्डी ने कहा है कि यह तीनों लोक अंधकार में लीन हो जायें, यदि यह शब्दरूपी ज्योति संसार को उद्दीप्त न करे-

*इदं अन्धन्तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रायम् ।
यदि शब्दाहव्यं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते ॥*

न्याय-वैशेषिक दर्शन में शब्द का स्वरूप

न्याय-वैशेषिक द्रव्य और गुण में तात्त्विक भेद मानते हुए शब्द को आकाश द्रव्य का गुण मानते हैं। न्यायभाष्यकार वात्स्यायन शब्द के दो भेद मानते हैं - ध्वनिमात्र और वर्ण-

द्विविधश्चायं शब्दो वर्णात्मका ध्वनिरूपश्च । (न्याय भाष्य)।

वैशेषिक सूत्र भाष्यकार प्रशस्तपाद ने भी शब्द के इसी प्रकार दो भेद किये हैं और कहा है कि शब्द आकाश का गुण है, श्रवणेन्द्रिय से ग्रहण के योग्य, क्षणिक, एक प्रदेश में रहने वाला तथा वर्ण-रूप और ध्वनि-रूप - दो प्रकार का है। उनमें आकार आदि शब्द वर्ण के रूप में होते हैं और शंख आदि के निमित्त से होने वाला ध्वनि के रूप में होता है। वैशेषिक सूत्रकार कणाद के अनुसार यह दोनों ही प्रकार का शब्द पहले संयोग अथवा विभाग द्वारा उत्पन्न होता है, पश्चात् उसी संयोग और विभाग शब्द से शब्द-सन्तान का जन्म होता है। वर्णात्मक शब्द के उच्चारण को लक्षित करते हुए वात्स्यायन ने कहा है कि प्राण वायु का उच्चारण स्थान के समय अभिघात रूप संयोग होने पर वर्णात्मक शब्द की उत्पत्ति होती है। शब्द चाहे ध्वन्यात्मक हों चाहे वर्णात्मक, दोनों ही शब्द न्याय-वैशेषिक के मत में अनित्य हैं।

पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा में शब्द का स्वरूप

पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा (वेदान्त) में शब्द के विषय में हमें समान विचार देखने को मिलते हैं। दोनों संप्रदायों के प्रामाणिक आचार्यों ने वर्ण को ही शब्द का वास्तविक स्वरूप माना है। उनके मत में 'वर्ण' ही शब्द की मूलभूत इकाई है। आचार्य उपवर्ष का मत है कि 'गौः' इस शब्द का स्वरूप गकार, औकार और विसर्ग इन वर्णों के अतिरिक्त और कुछ नहीं, केवल वर्ण ही शब्द है। मीमांसक का यह वर्णात्मक शब्द नित्य है और उच्चरित प्रध्वंसी अनित्य ध्वनियों से व्यक्त होता है। जबकि न्याय-वैशेषिक, सांख्य-दार्शनिक वर्ण को अनित्य ही मानते हैं - श्रोत्रग्रहणो योऽर्थः स शब्दः। (न्याय-मंजरी) ।

उत्तरमीमांसा का सिद्धान्त भी ठीक पूर्वमीमांसा जैसा ही है। जिस प्रकार मीमांसकों ने स्फोटवाद का खण्डन कर वर्णवाद की स्थापना की, उसी प्रकार आचार्य शंकर ने भी आचार्य उपवर्ष के प्रामाण्य पर ही अनित्य ध्वनि से अभिव्यक्त नित्य वर्ण को ही भाषा की मूल इकाई माना है। शंकर के मत में गकार, औकार और विसर्जनीय आदि वर्ण व्यक्ति रूप ही हैं। अतः गत्व आदि वर्ण जातियों की सत्ता मीमांसा के समान स्वीकार नहीं की। एक ही वर्ण, व्यक्ति व्यंजक ध्वनि के भेद से " ह्रस्व, द्रुत आदि भेदों को प्राप्त होती है आचार्य शंकर ने इन सभी बातों का अपने शारीरिक भाष्य में स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है।

बौद्धदर्शन और जैनदर्शन में शब्द का स्वरूप

न्याय-वैशेषिक के समान बौद्ध आचार्य भी शब्द को ध्वनिरूप तथा उत्पन्न और नष्ट होने वाला मानते हैं। न्याय भाष्यकार वात्स्यायन ने न्याय-सूत्र में दो मतों का उल्लेख किया है जो शब्द को उत्पादनशाली मानते हैं और एक शब्द की अभिव्यक्ति स्वीकार नहीं करते। इनमें से पहला तो वैशेषिक का सिद्धान्त कहा गया है और दूसरा बौद्धों का। इसमें शब्द ज्ञान(बुद्धि) के समान उत्पन्न और नष्ट होने वाला है, आकाश का विशेष गुण है और समवाय सम्बन्ध से उत्पत्तिजनक है। बौद्धों के मत में शब्दोत्पत्ति का कारण महाभूतों का संक्षोभ है। बौद्ध आचार्य वात्स्यायन के मत के विपरीत शब्द को आकाश आदि में आश्रित न मानकर उसके गुण और सावयव होने का भी प्रतिषेध करते हैं। उनका शब्द निरव्यव अर्थात् देशिक व्याप्ति से रहित है। इससे स्पष्ट है कि बौद्ध ध्वनि-ध्वनि को ही शब्द मानते हैं। बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति ने मीमांसकों तथा वैयाकरणों के शब्द विषयक सिद्धान्त को समीक्षा करते हुए शब्द को ध्वनि रूप तथा अनित्य माना है और उन्हीं को वाचक कहा है।

जैन आचार्य प्रभाचन्द्र का मत है कि शब्द पुद्गल कार्य है और वे पुद्गलों में उसी प्रकार आश्रित हैं, जैसे कार्य-द्रव्य अपने कारण-द्रव्य में आश्रित रहता है। जैनदर्शन शब्द को सामान्य-विशेषात्मक मानता है। सभी शब्दों में अनुगत उसका रूप-शब्दत्व-सामान्यात्मक है। शंख, शब्द, उदात्त-अनुदात्त आदि उसके विशेषात्मक रूप हैं। शब्द विषयक जैन सिद्धान्त न्याय-वैशेषिक के सिद्धान्त से मूलतः भिन्न है। परन्तु जैनदर्शन न्याय आदि के समान वाचक शब्द को वर्णात्मक तथा अनित्य मानता है तथा स्फोटवाद का प्रतिषेध करता है।

व्याकरण-दर्शन में शब्द का स्वरूप

न्याय-वैशेषिक, पूर्वमीमांसा, वेदान्त, बौद्ध और जैन समान रूप से भाषा की मूलभूत इकाई को ' वर्ण ' मानते हैं तथा वही शब्द मानते हैं। उसी का श्रवणेन्द्रिय से ग्रहण होता है। परन्तु वैयाकरण इनसे सहमत नहीं है। वे कण्ठ, तालु आदि के अभिधात से उत्पन्न ध्वनि को शब्द मानते हैं। पूर्वोत्तर मीमांसकों के ध्वनि-व्यंग्य ' वर्णात्मक ' शब्द से भी सहमत नहीं हैं। वैयाकरण अर्थवान् शब्द का विवेचन करता है। शब्द का उच्चारण अर्थ परिज्ञान के लिए किया जाता है।

महावैयाकरणाचार्य पतञ्जलि ने भी ऐसा ही कहा है। शब्द के स्वरूप के विषय में इनके दो वक्तव्य हैं जिनमें प्राचीन काल से विवाद चला आ रहा है। पहला वक्तव्य है कि जिसके उच्चारण से सास्त्रा, लाङ्गूल, ककुद, खुर और सींग वाले का बोध होता है, वह शब्द है - **येनोच्चारितेन सास्त्रालाङ्गूलककुद खुरविषाणिनां संप्रत्ययो भवति स शब्दः। (महाभाष्य)।** इसमें सास्त्रा, लाङ्गूल आदि का उल्लेख गो शब्द के प्रसंग से किया गया है। उसे हटा देने पर शब्द की परिभाषा का रूप यों होगा कि शब्द वह है जो उच्चारित होता हो और किसी अर्थ का प्रत्यायक हो। इसमें उच्चारण और संप्रत्यय दोनों शब्द की विशेषताएँ हैं। ' उच्चारण ' शब्द, शब्द के ध्वन्यात्मक स्वरूप को सामने लाता है। ' संप्रत्यय शब्द ' शब्द के सांकेतिक रूप को व्यक्त करता है।

पतञ्जलि का दूसरा वक्तव्य है कि प्रतीत पदार्थ के ध्वनि को शब्द कहा जाता है - **प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते। (महाभाष्य)।** प्रतीत पदार्थक का अर्थ है - लोक प्रचलित अर्थ। लोक प्रचलित अर्थ वाली ध्वनि का नाम शब्द है।

प्रथम वक्तव्य से द्वितीय वक्तव्य में थोड़ा भेद है। यदि संप्रत्यायक ध्वनि को शब्द माना जायेगा, तो टि, घु, भ, आदि भी कृत्रिम संज्ञाएँ शब्द मानी जायेंगी, क्योंकि ' टि ' आदि से भी संप्रत्यय किसी न किसी को होता ही है, किन्तु ' टि ' आदि सब के लिए शब्द नहीं है। इसलिए संप्रत्यय के स्थान पर प्रतीत पदार्थ रखना पतञ्जलि को अधिक उपयुक्त जान पड़ा होगा। दूसरी परिभाषा लोक व्यवहार के आधार पर है। पहली परिभाषा के अनुसार कृत्रिम संज्ञाएँ भी शब्द हैं। दूसरी के अनुसार सामान्य रूप में वे शब्द नहीं हैं।

भर्तृहरि अपने ग्रन्थ के प्रारंभ में ही शब्द-ब्रह्म के स्वरूप को वर्णन करते हैं। शब्द-ब्रह्म आदि और अन्त से रहित है, अक्षर है, उसका ही अर्थ रूप में विवर्त होता है, जिससे इस संसार का कार्य चलता है। शब्द-ब्रह्म का ही पारिभाषिक नाम ' स्फोट ' है। ' स्फोट ' ही अनादि, अनन्त, अक्षर है तथा शब्द और अर्थ एक ही आत्मा- ' स्फोट ' के दो स्वरूप हैं। लोक में वागु व्यवहार की सिद्धि के लिए व्याकरणशास्त्र स्फोट रूप शब्द के साथ-साथ लौकिक ध्वनि रूप शब्द को भी स्थान देता है। पतञ्जलि ने ' द्वे शीर्षे ' पद से शब्द के दो रूप-नित्य और अनित्य का ग्रहण किया है।

' **नित्य रूप व्यङ्ग्य** ' ' स्फोट ' है और अनित्य को ' ध्वनि ' शब्द से स्पष्टतः अभिहित किया है। ध्वनि के द्वारा शब्द की अभिव्यक्ति होती है। अतएव स्फोट व्यङ्ग्य है और ध्वनि व्यञ्जक।

शब्द नित्य है। व्याकरण दर्शन में शब्द को कार्य मानकर भी विचार किया गया है और शब्द को नित्य मानकर भी विचार प्राप्त होता है। किन्तु सिद्धान्त रूप से शब्द नित्य है। जहाँ शब्द द्रव्य के रूप में माना है, वहाँ प्रवाह नित्यता से नित्यत्व अपेक्षित है। पाणिनि ने ' **तदशिव्यं संज्ञाप्रमाणत्वात्** ' ' **शब्दार्थ सम्बन्धे** ' इस वार्तिक द्वारा शब्द नित्यत्व का उद्घोष किया है। भर्तृहरि ने भी ' नित्या शब्दार्थसम्बन्धाः ' आदि वाक्यों द्वारा शब्द के नित्यत्व पक्ष की चर्चा की है।

शब्द का शक्तिग्रह

जिस अर्थ में किसी पद का संकेत किया जाता है, वह संकेतित अर्थ कहलाता है। शब्द का यह अर्थ किस रूप में होता है? अर्थात् शब्द का संकेत द्रव्य या व्यक्ति में होता है अथवा जाति में। इस विषय में न्यायादि में विस्तार से विवेचन किया गया है और पदार्थ क्या है? इस संबंध में विविध मत प्रस्तुत किये गये हैं। शब्द से अभिधेय अर्थ कितने प्रकार का होता है। अर्थात् शब्द से किन-किन अर्थों का संकेत किया जाता है। प्राचीन आचार्य काव्यप्रकाशकार मम्मट ने वैयाकरणों के मत का उल्लेख करते हुए कहा है कि जिस अर्थ में संकेत किया जाता है, वह चार प्रकार का है - जाति, गुण, क्रिया और यदुच्छा। इसलिए महाभाष्यकार पतञ्जलि ने चार प्रकार के शब्द माने हैं - जाति शब्द, गुण शब्द, क्रिया शब्द, यदुच्छा शब्द।

(क) **जाति शब्द** वे शब्द हैं जो जाति या सामान्य के अभिधायक हैं। जैसे- गो शब्द गोत्व जाति का बोध कराता है।

(ख) **गुण शब्द** वे हैं जो गुणों का वाचक हैं, जैसे- शुक्ल आदि।

(ग) **क्रिया शब्द** वे हैं जो क्रिया के अभिधायक हैं। ये दो प्रकार के होते हैं। क्रिया की साध्यावस्था को कहने वाले तिङन्त आदि शब्द ' पचति ' आदि

और क्रिया की सिद्धावस्था को बतलाने वाले घञन्त आदि शब्द जैसे- पाकः(पच् + घञ्)।

(घ) यदृच्छा शब्द वे हैं जो इच्छानुसार किसी व्यक्ति के नाम के रूप में प्रयुक्त किये जाते हैं, जैसे- बैल का नाम ' डित्थ ' हो - आदि। इस प्रकार के संज्ञा शब्द ' व्यक्ति ' का बोध कराते हैं। वैयाकरणों के अनुसार संकेतित अर्थ का चतुर्विध विभाग दिखलाकर आचार्य मम्मट ने विकल्प से मीमांसक का मत प्रकट किया है कि जाति ही एक संकेतित अर्थ है।

वार्तिककार कात्यायन और पतञ्जलि ने भाषातत्त्व के मूल पर गंभीर विचार करके यदृच्छा शब्दों का तात्त्विक दृष्टि से खण्डन कर दिया है। यदृच्छा शब्दों के अस्तित्व को अस्वीकार करके उन्होंने शब्दों के तीन ही प्रवृत्ति निमित्त कहे - जातिवाचक, गुणवाचक, क्रियावाचक - **त्रयी च शब्दानां प्रवृत्तिः जातिशब्दाः गुणशब्दाः क्रियाशब्दाः इति। न सन्ति यदृच्छाशब्दाः। (महाभाष्य)।**

जाति की समस्या और विभिन्न मत

शब्द के प्रतीयमान अर्थ जाति रूप होता है अथवा व्यक्तीरूप? भारतीय दार्शनिकों एवं भाषा वैज्ञानिकों में इस विषय में पर्याप्त मतभेद हैं। इस संबंध में हमारे समक्ष चार सिद्धान्त उपस्थित होते हैं-

(क) शब्द से जात्यर्थ की उपस्थिति होती है।

(ख) शब्द से व्यक्त्यर्थ की उपस्थिति होती है।

(ग) शब्द से जाति विशिष्ट अर्थ की उपस्थिति होती है।

(घ) शब्द से अतद्व्यावृत्त-अर्थ की उपस्थिति होती है।

इन मतों की विभिन्नता ने भिन्न-भिन्न वाद उत्पन्न किये। यही चार प्रकार के मत भारतीय दर्शन में प्रस्तुत किये गये हैं। बृहद् पदार्थवाद (Extreme Realism) न्याय-वैशेषिक और मीमांसा दर्शन ने प्रस्तुत किया है। न्याय वैशेषिक सम्प्रदाय ने ही सर्वप्रथम इस जाति संबंधित समस्या को उठाया। उनका कथन है कि जाति पदार्थ की एक स्वतंत्रा विशेषता है। जाति एक नित्य अथवा शाश्वत सत्ता है - **नित्यमेकमनेकानुगतं सामान्यम्। (तर्कसंग्रह)।** जो कि व्यक्ति से भिन्न है, जिसमें(व्यक्ति में) वह रहती है। वह जाति नित्य है क्योंकि वह उत्पत्ति, परिवर्तन तथा विनाश से अप्रभावित है। जाति व्यक्ति से इसलिए भिन्न है क्योंकि उसका ज्ञान व्यक्ति के ज्ञान से भिन्न है। परन्तु न्याय-वैशेषिक के मत में जाति और व्यक्ति का यह अन्तर उनके प्रगाढ. संबंध का प्रतिषेधक नहीं है। उनके मत में दो वस्तुएँ परस्पर भिन्न होकर भी प्रगाढ. और अत्यंत संबंधित हो सकती है। इस संबंध को उन्होंने ' समवाय ' कहा है जो कि अद्वितीय है। यह समवाय पदार्थ एक स्वतंत्रा सत्ता है जो दो परस्पर भिन्न वस्तुओं को एक अविभाज्य रूप में जोड़ता है। न्याय-वैशेषिक ने जाति का ' सामान्य ' के रूप में उल्लेख किया है। न्याय-वैशेषिक के इस बाह्यार्थवाद को **मीमांसा दर्शन** का पूर्ण समर्थन प्राप्त है। प्रभाकर-सम्प्रदाय को न्याय-वैशेषिक का सिद्धान्त बिना परिवर्तन के स्वीकृत है। परन्तु कुमारिल भट्ट जाति और व्यक्ति के भेद को अस्वीकार करके एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन करते हैं। वे ' समवाय ' की अपेक्षा ' भेदाभेद ' (Identity-in-Difference) को मानते हैं। उनका मत है कि जाति और व्यक्ति का पूर्ण भेद हमारे अनुभव से विपरीत है। ये दोनों(जाति और व्यक्ति) सदा भेद तथा अभेद युक्त दिखाई पड़ते हैं। जैसे- ' यह गाय है ' - यह ज्ञान ' यह ' (व्यक्ति) - ' गाय ' (जाति) - इन दोनों में भेद और अभेद युक्त है। क्योंकि ' यह ' शब्द जाति गाय का बोधक होने के साथ-साथ अपनी स्वतंत्र सत्ता भी रखता है।

जैनदर्शन ने जाति की समस्या को अपने अनेकान्तवाद की दृष्टि से देखा है। जैन मत है कि शब्द और विचार बाह्य पदार्थ के आधार हैं। जाति और व्यक्ति दो पदार्थ नहीं हैं। परन्तु वे एक-दूसरे की संबंधित दशा हैं। वे एक-दूसरे से संबंधित भेदयुक्त और संबंधित अभेदयुक्त हैं। यह मध्यस्थिति का पदार्थवाद है। प्राचीन जैनाचार्यों को ऐसा मत है परन्तु पश्चात् के कुछ जैनाचार्य अपने विषय से भटक गये। एक जैनाचार्य अभयदेव सूरि ने जाति को किसी भी रूप में नहीं माना है। न अभेद रूप में और न ही समता के रूप में, उनके मत में जाति एक वैषयिक योजना है जिसका किसी पदार्थ से संबंध नहीं है। वह अनेक व्यक्तियों पर आधरित है जो (व्यक्ति) कि वास्तविक सत्ता है जैनों का प्रमुख अनेकान्तवादी मत संप्रत्ययविचारवाद (Conceptualism) कहलाता है। बृहत्पदार्थवाद, जो न्याय-वैशेषिक और मीमांसा की देन है, को **अद्वैत वेदान्त** ने अस्वीकार कर दिया है। वे जाति की समस्या को ' परब्रह्म ' की दृष्टि में रखकर सुलझाते हैं। उनका कथन है कि परम ब्रह्म, अविद्या के कारण विभिन्न नाम-रूप से दृष्टिगोचर होता है - **द्विरूपं हि ब्रह्मावगम्यते नामरूपविकारभेदोपाधिविशिष्टं तद्विपरीतञ्च सर्वोपाधिविवर्जितम् । (ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य)।** वे न्याय की नित्य और शाश्वत जाति को नहीं मानते। इसके स्थान पर ब्रह्म के नामरूप को जाति के ज्ञान रूप में दिखाते हैं। सब प्रकार के व्यक्तियों का भी इसी जाति में ही समावेश करते हैं अर्थात् व्यक्ति को जाति-सत्ता से भिन्न नहीं मानते। अन्ततः ये पदार्थ को ' ब्रह्म ' कहते हैं। उस ब्रह्म के प्रतिनिधि जाति (नामरूप) और व्यक्ति हैं। जाति व्यक्तियों का संकुचित रूप है और ब्रह्म उनका विशाल रूप है। अतः अद्वैतवादी मानता है कि जाति व्यक्ति का धर्म नहीं है जैसा कि पदार्थवादी कहता है, अपितु उन व्यक्तियों का धर्मी है, जिसमें व्यक्ति धर्म है।

वैयाकरणों ने जाति और व्यक्ति-दोनों को पदा का अर्थ मानकर समन्वय की स्थापना की है। पाणिनि ने दोनों को ही पदार्थ मानकर सूत्र दिये हैं। कात्यायन और पतञ्जलि ने वाजप्यायन के आकृतिवाद और व्याडि के द्रव्यवाद के समर्थन में दोनों का समन्वय किया है। उनका इस विषय में महत्त्वपूर्ण तर्क यह है कि यह नहीं समझना चाहिये कि जाति को पदार्थ मानने वाले व्यक्ति को पदार्थ नहीं मानते और व्यक्ति को पदार्थ मानने वाले जाति को पदार्थ नहीं मानते। अपितु जातिवादी जाति को मुख्य और व्यक्ति को गौण तथा व्यक्तिवादी व्यक्ति को मुख्य तथा जाति को गौण मानते हैं। इसके अतिरिक्त कहाँ कौन-सा मुख्य है। इसका निर्णय वक्ता की इच्छा पर निर्भर है। अतः लक्ष्यानुसारी दोनों पक्ष परिग्रहीत होने पर समस्या का समाधान होगा। बाह्यार्थवाद पर हर तरह से प्रहार बौद्धों द्वारा किये गये। **बौद्ध-दार्शनिक** यथार्थवाद के साथ अन्य सभी वादों को अस्वीकार करके जाति की समस्या का समाधान भेद के आधार पर करते हैं। पदार्थ उनके मत में क्षणिक व्यक्तियों का समूह है जो पूर्णतया विलक्षण है। पदार्थ में कोई भेद या समता नहीं है। हर तरह का ज्ञान ' अपोह ' से होता है। अतद् व्यावृत्ति या तद्विभ्रन्निभ्रत्व ही ' अपोह ' है। ' घट ' कहने से ' घट ' पदार्थ से इतर (भिन्न) संसार में पटादि जितने पदार्थ हैं, उनकी व्यावृत्ति हो जाती है अर्थात् उनका निषेध हो जाता है। तब घटभिन्न संपूर्ण पदार्थों का निषेध हो जाने पर जो शेष बचता है - ' घट रूप ' , अर्थ, वही घट शब्द का अर्थ है। शब्द का उसी तद्विभ्रन्निभ्र में संकेतग्रह होता है अथवा यों कहें कि ' गो ' का अर्थ वास्तव में सास्त्रा, लाङ्गूल आदि से युक्त पशु नहीं है अपितु गो से इतर की व्यावृत्ति या प्रतिषेध ही गौ का अर्थ है। ' नीलकमल ' कहने पर ' नील ' शब्द उन सब वर्णों का प्रतिषेध हो जाता है जो ' नील नहीं है ' और ' कमल ' के उच्चारण से उन सब पदार्थों का प्रतिषेध हो जाता है जो कमल नहीं है। इस प्रकार कोई भी वस्तु की सत्ता का बोध नहीं कराता अपितु उसे भिन्न पदार्थों की व्यावृत्ति का ही बोध कराता है - यही ' **अपोहवाद** ' है।

बाह्यार्थवाद और अपोहवाद का विवाद भारतीय दर्शन का महत्त्वपूर्ण स्तम्भ है। जिसने आगे चलकर भारतीय दर्शन के सिद्धान्तों का विकास और विस्तार किया।